

# जनतंत्र में पुलिस की भूमिका

विकास नारायण राय

संस्थागत पूर्वग्रह, जो कानून के रखवालों को मानवाधिकार द्रोहियों और यहां तक कि बेपरवाह हत्याओं तक में तब्दील कर देते हैं, कोई अकेली भारतीय पुलिस की बपौती नहीं हैं। भारतीय पुलिस के सामने औपनिवेशिक जकड़न को तोड़ने की गंभीर चुनौती है जिसने उसे निरंकुश, सत्तापरक और फिरकापरस्त बनाए रखा है। इसी तरह विकसित पश्चिमी देशों में भी अपनी नस्ली विरासत से पीछा छुड़ा पाना विकट चुनौती से कम नहीं, जिसके चलते लाख कोशिशों के बावजूद वहां के गोरे पुलिसकर्मियों के कानूनी विवेक पर चढ़ी रंगभेदी कलई नहीं उतर पा रही। फलस्वरूप उन देशों की अपराध-न्याय व्यवस्था को भी अपने नागरिकों के प्रति अपनी ही पुलिस के गैरकानूनी हिंसक प्रकरणों से लगातार दो-चार होना पड़ता है। हालांकि उनकी शासनिक-प्रशासनिक पद्धतियों में लोकतांत्रिक जड़ें अपेक्षया गहरी हैं और वहां किसी चित्तूर या हाशिमपुरा की कल्पना नहीं की जा सकती।

अमेरिका में, एक काला राष्ट्रपति चुने जाने के बावजूद, गोरी मानसिकता की शिकार पुलिस के हाथों आए दिन काले संदिग्ध मारे जाते रहे हैं। ये गैरकानूनी हत्याएं, पुलिस कार्रवाई में औसतन होने वाली उन चार सौ वार्षिक मौतों से अलग हैं जिन्हें अमेरिकी पुलिस न्यायोचित घातक प्रकरण के दायरे में ठहरा पाती है। अमेरिका में कानून से भागने वालों को गोली मारने का पुराना रिवाज रहा है। एक जमाने में वहां कॉमन लॉ में हत्या ही नहीं, तमाम अन्य छोटे-बड़े अपराधिक कृत्यों की सजा भी मौत होती थी और स्वामित्व से भागते हुए काले दास को मार गिराना गोरे मालिक के लिए एक आम शगल।

वर्ष 1985 में अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट ने नेसी बनाम गार्नर मामले में संविधान के चौथे संशोधन की व्याख्या करते हुए घातक बल प्रयोग को लेकर पुलिस की सावधानी बरतने की सीमा व्यापक रूप से तय की। इसका निचोड़ था कि कानून से भागने वाले पर पुलिस तभी घातक बल का इस्तेमाल कर सकेगी जब ऐसे संभावित कारण हों कि संदिग्ध व्यक्ति से संबंधित पुलिसकर्मी या अन्य लोगों के लिए मृत्यु शारीरिक नुकसान का अहम खतरा है। पर व्यवहार में यह सब कुछ अंततः मौके पर उपस्थित पुलिसकर्मी के विवेक की परीक्षा का क्षण बन कर ही रह जाता है। यानी कानून का शासन जैसे अक्षय विधिक पुंज पर भी कानून की भूमिका के जमीनी पूर्वग्रह का

**भारत में इसके बरक्स यह अपवाद है कि कोई पुलिस चीफ अपने मातहतों की फर्जी मुठभेड़ों पर पर्दा डालता न दिखे। देश में शायद ही कोई सरकार मिलेगी जिसमें पारदर्शी रूप से अपनी पुलिस की गलत प्रवृत्तियों को चिह्नित करने का साहस हो और जो दूरगामी निदान के उपायों में विश्वास दिखाए। न एक भी राज्य सरकार और न ही केंद्र सरकार! सभी पर औपनिवेशिक जमाने की सोच एक समान हावी है कि इससे पुलिस के मनोबल पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। उत्तर प्रदेश पीएसी के हाशिमपुरा जैसे निरंकुश हत्याकांड में अट्टाईस वर्ष बाद आए फैसले ने कानून-व्यवस्था मशीनरी को ही नहीं न्याय के मोर्चे पर एक पूरी तरह विफल समूचे राज्य को भी प्रतिबिंबित किया।**

प्रहण लग जाने की आशंका बनी ही रहती है।

पश्चिमी जगत में रंगभेद का नस्ली पूर्वाग्रह इस कदर हावी है कि ब्रिटेन में 1998 की मैकफर्सन पब्लिक इन्क़ायरी में ब्रिटिश पुलिस के संस्थागत स्वरूप को नस्ली करार दिया जा चुका है। पृष्ठभूमि में था अप्रैल 1993 में दक्षिण-पूर्व लंदन में एक आदी नस्ली गैंग के हाथों जमैकन मूल के काले ब्रिटिश युवक स्टीफेन लॉरेंस की हत्या से उठा जन-तूफान। इस मामले में दो दोषियों को तमाम कानूनी उठा-पटक के बाद 2012 में जाकर सजा दी जा सकी।

विडंबना यह कि हत्या के तीन दिन में ही दोषी गैंग की पहचान हो जाने के बावजूद उन्हें दो हफ्ते तक गिरफ्तार न करने वाले गोरे अप्सर का पब्लिक इन्क़ायरी के समक्ष तर्क रहा कि वह इस बुनियादी आपराधिक कानूनी प्रावधान से ही अनभिज्ञ था कि पुख्ता शक की बिना पर पुलिस को संदिग्ध की गिरफ्तारी का भी अधिकार है। उसके इस अविश्वसनीय दावे की तुलना भारत में आंध्र प्रदेश डीजीपी के हालिया प्रतिप्रश्न से की जा सकती है कि मीडिया उन्हें वह कानून दिखाए जिसके अनुसार स्वचालित बंदूकों से लैस उनकी पुलिस को कुल्हाड़ीधाड़से वाले लकड़हारों के पैर

पर गोली चलानी चाहिए थी, न कि उनके सिर पर या कमर से ऊपर। यानी यहां भी आत्मरक्षा के कानूनी प्रावधान, जो पुलिस को मुठभेड़ में सशत मार गिराने की इजाजत देते हैं, में अंतर्निहित सर्वाधिक बुनियादी कानूनी विवेक को ही भुला दिया गया। बल प्रयोग उतना, आवश्यक हो जितना!

आंध्र प्रदेश और तेलंगाना में इस साल सात अप्रैल की तारीख दो नियोजित खूनी पुलिस मुठभेड़ों के नाम रही। भारत में कानून से भागते हुए पर घातक बल-प्रयोग की अनुमति नहीं है। लिहाजा, दोनों मुठभेड़ों में नृशंस हत्याओं का औचित्य सिद्ध करने के लिए आत्मरक्षा की जानी-पहचानी पुलिस कहानी गढ़ी गई। चित्तूर के जंगलों में, जहां लाल चंदन तस्करों के लिए पेड़ काटने वाले बीस तमिल श्रमिकों को बटोर कर एसटीएफ दस्ते ने गोलियों से भून दिया, मौका और लाशें ही पुलिस को झूठा नहीं बता रहे बल्कि चश्मदीद गवाह भी हैं मुकम्मल सच तक पहुंचने के लिए।

अब हैदराबाद उच्च न्यायालय के दखल पर आंध्र प्रदेश पुलिस को अज्ञात पुलिसवालों के विरुद्ध हत्या का मुकदमा भी दर्ज करना पड़ा है। यहां पूर्वग्रह की कोख से ही उपजा एक और सवाल बनेगा कि अज्ञात के विरुद्ध क्यों, जब एसटीएफ

ऑपरेशन में हिस्सा लेने वाला दस्ता ज्ञात है।

इसी दिन तेलंगाना के वारंगल में एक और पुलिस मुठभेड़ की कहीं अधिक अविश्वसनीय गाथा दर्ज की गई कि पुलिस हिरासत से भागने की कोशिश में हिंसक हुए सिमी के कुख्यात विकारुद्दीन समेत पांच मुसलिम आतंकियों को उन्हें हैदराबाद ले जा रही एस्कॉर्ट टुकड़ी ने मार गिराया। इस मामले में निश्चित ही पुलिस को अपने डांबांडोल पक्ष से कहीं ज्यादा अपनी किस्मत के मजबूत होने पर भरोसा करने की जरूरत पड़ेगी। अन्यथा पुलिस वैतन में हथकड़ियों में जकड़े कैदियों से उनका इकतरफ़ मुठभेड़ का दावा शायद ही किसी स्वतंत्र छानबीन के सामने ठहर पाए। वैसे भी पुलिस हिरासत में हुई इन मौतों को तीन दिन पूर्व नलगोंडा में हुई तीन पुलिसकर्मियों की हत्या से जोड़ कर देखा जा रहा है उसमें भी शक की सुई सिमी के लोगों पर ही है।

दरअसल, मई 2007 के मक्का मस्जिद धमाकों की सरगमी में मुसलिम युवकों की अंधाधुंध झूठी गिरफ्तारी पुलिस फायरिंग में हुई मौतों की बरसी के आसपास पुलिस पर इक्का-दुक्का प्रतिशोधी वारदातों का सिलसिला थमा नहीं है, हालांकि स्वयं विकारुद्दीन 2010 से पुलिस की गिरफ्त में चला आ रहा था। भारत में पुलिस हत्याओं पर दृष्टिपात का नजरिया पश्चिमी समाजों के मानकों से बेहद भिन्न रहा है।

अमेरिका में इन दिनों एक पुलिस चीफ के बाद दूसरे पुलिस चीफ को अपने मातहतों के रंगभेदी कुकृत्यों के लिए नागरिकों से माफी मांगते और दोषी पुलिसकर्मियों को उनके हाथों बर्खास्त चार्जशीट होते देखा जा सकता है। कहीं-कहीं गाज स्वयं पुलिस चीफतक पर गिरी है क्योंकि वे अपनी यूनिट के नस्ली व्यवहार में समुचित सुधार नहीं ला सके थे।

हर गैर-कानूनी मौत के बाद संबंधित राज्यों के और संघीय सरकार के न्याय विभाग ने भी तत्परता से जरूरी उपचारों पर ध्यान दिया। कई राज्यों के गवर्नर और स्वयं राष्ट्रपति ओबामा भी सार्वजनिक रूप से पुलिस प्रशासन में कमियों को स्वीकारने में आगे आए। उन्होंने पुलिस के कठिनतर काम-काज में अपने विश्वास को दोहराते हुए भी रंगभेदी मानसिकता और परिस्थितिजन्य गलतियों को दुरुस्त करने का संकल्प कमतर नहीं होने दिया।

ब्रिटेन में भी, जब अंततः अदालत ने स्टीफेन लॉरेंस के हत्याओं को उन्नीस वर्ष की जद्दोजहद के बाद सजा सुनाई तो

1997 से 2001 तक गृहमंत्री रहे जैक स्ट्रॉ, जिन्होंने मैकफर्सन पब्लिक इन्क़ायरी बिठाई थी, ने संतोष से माना कि उस इन्क़ायरी का गठन उनके कार्यकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय रहा। इसी रिपोर्ट के आधार पर उचित मामलों में दोहरे जोखिम, डबल जेओपारडी जैसे सर्वमान्य न्यायिक सिद्धांत को आंशिक रूप से तर्क करने का रास्ता खोला गया ताकि लॉरेंस मामले में एक बार रिहा हो चुके हत्यारों को पुनः उसी अपराध में अभियोजित किया जा सके। पब्लिक इन्क़ायरी में कुल सत्तर संस्तुतियां की गई थीं जिनमें सभी को गंभीरता से लिया गया। यहां तक कि, इसी क्रम में 2013 में गृहमंत्री थेरसा ने पुलिस के पेशेवर काम में गलत प्रवृत्तियों को लेकर एक और स्वतंत्र जांच बिठाई, जिसकी 2014 में आई दो-टुक रिपोर्ट को पारंपरिक पुलिस नजरिये के लिए विध्वंसकारी तक कहा गया।

भारत में इसके बरक्स यह अपवाद है कि कोई पुलिस चीफ अपने मातहतों की फर्जी मुठभेड़ों पर पर्दा डालता न दिखे। देश में शायद ही कोई सरकार मिलेगी जिसमें पारदर्शी रूप से अपनी पुलिस की गलत प्रवृत्तियों को चिह्नित करने का साहस हो और जो दूरगामी निदान के उपायों में विश्वास दिखाए। न एक भी राज्य सरकार और न ही केंद्र सरकार! सभी पर औपनिवेशिक जमाने का सोच एक समान हावी है कि इससे पुलिस के मनोबल पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा। उत्तर प्रदेश पीएसी के हाशिमपुरा जैसे निरंकुश हत्याकांड में अट्टाईस वर्ष बाद आए फैसले ने कानून-व्यवस्था मशीनरी को ही नहीं न्याय के मोर्चे पर एक पूरी तरह विफल समूचे राज्य को भी प्रतिबिंबित किया।

हाशिमपुरा के क्रम में हुए मलियाना हत्याकांड का फैसला अभी आना है और आशंका है कि उसका हथ्र भी शायद ही अलग हो। पर भारत के गृहमंत्री से लेकर उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री तक ने नागरिकों से माफी, अल्पसंख्यकों के प्रति पूर्वग्रह, नए सिरे से तफ्तीश, स्वतंत्र जांच, पब्लिक इन्क़ायरी जैसे आयामों पर चुप्पी साधे रखी है। प्रदेश के गृह विभाग ने उच्च न्यायालय में अपील दायर करने की कवायद रस्मी अंदाज में शुरू की है, जैसे सारा मसला महज अभियुक्तों और मरने वालों के बीच का ही था। क्या आश्चर्य कि इस न्याय-घातक फैसले के चंद ही हफ्तों में उत्तर भारत के हाशिमपुरा को दक्षिण भारत के चित्तूर में दोहरा दिया गया।

पुलिसकर्मियों की मानसिकता का स्वतंत्र आकलन और उसके अनुसार पुलिस प्रशिक्षण प्रशासन में उनका मार्गदर्शन असंभव कार्य क्यों बना हुआ है भारत में कानून-व्यवस्था बेशक राज्यों का विषय हो मगर वांछित अंतरराज्यीय समन्वयन में और आंतरिक सुरक्षा मोर्चे पर केंद्र सरकार की प्रमुख भूमिका बराबर रही है और रहेगी। इसके बावजूद न पहले योजना आयोग और न अब नीति आयोग के संगठन में यह आवश्यकता प्रतिबिंबित होती है न ही राज्यों के योजना आयोगों के गठन में इसे स्थान मिलता है।

पुलिस आधुनिकीकरण का स्वर्णयुग पी चिदंबरम का गृहमंत्रित्व-काल माना जाता है। लेकिन तब भी उपलब्ध प्रचुर फंड का उपयोग इन्फ्रस्ट्रक्चर, उपकरण, हथियार और संचार-आसूचना-गति-अभ्यास के साजो-सामान जुटाने पर ही होता रहा। निश्चित ही ये सब पुलिस के बेहद जरूरी पक्ष हैं पर उतना ही जरूरी है पुलिसकर्मी का औपनिवेशिक सामाजिक पूर्वाग्रहों से मुक्त होना और संवैधानिक मूल्यों को जीना। निदान है लोकतांत्रिक कामकाजी पद्धतियों को गढ़ने और मजबूत करने में। इसके लिए पुलिस प्रशिक्षण और पेशेवर कार्य-कुशलता के मानकों में आमूलचूल परिवर्तन लाना पुलिस सुधारों का लक्ष्य होना चाहिए। पूर्वाग्रहों के लक्षण राजनीतिक स्तर पर भी छिपे नहीं रहे हैं। चित्तूर और वारंगल की मुठभेड़ों पर क्रमशः आंध्र और तेलंगाना के मुख्यमंत्रियों की चुप्पी कानून-न्याय व्यवस्था के प्रति आम नागरिक के असमंजस और अविश्वास को ही पुख्ता कर रही है।

## तुर्की-ब-तुर्की



“मेरा बचपन बहुत अभावों में बीता। मैं रेल के डिब्बों में चाय बेचता था। मेरी मां दूसरों के घरों में काम करती थी।”  
( प्रधानमंत्री के रूप में एक साल पूरा होने के उपलक्ष्य में न्यूयार्क टाइम्स को दिये साक्षात्कार में मोदी ने उपरोक्त बात कही। )

हमारा कहना है:-

□ मोदी जी आपके कथन की संगतता समझ में नहीं आई। 12 साल मुख्यमंत्री रहते हुए और अब प्रधानमंत्री बनने के बाद भी आपकी नीतियों में गरीबों का पक्ष नदारद है। आपके सारी घोषणायें और प्राथमिकतायें बड़े-बड़े घनना सेठों के पक्ष में होती हैं। फिर अभाव भरे बचपन से आपने क्या सबक सीखा? देश में करोड़ों बच्चों का बचपन आज भी अभाव में बीत रहा है, उनके लिये आप कुछ क्यों नहीं कर रहे?

□ चलो बाकी गरीबों को छोड़ भी दें तो कम से कम चायवालों के लिये ही कुछ किया होता। अगर हर चायवाले के लिये कुछ करना संभव नहीं था तो रेल के डिब्बों में चाय बेचने वालों के लिये ही कुछ कर देते।

□ कहीं आप गरीबों से मनोवैज्ञानिक प्रतिशोध तो नहीं ले रहे? कहीं आपको

गरीबों के साथ जुड़ने में शर्म तो नहीं आ रही? नीतियां तो छोड़िये आप दिखावे और पहनावे से भी गरीबों के पक्षधर नज़र नहीं आना चाहते। कृपया बताइये ऐसा क्यों? कौन सी मनोग्रंथी आपको गरीब से इतना दूर रखती है? कौन सी हीन भावना आपको कार्पोरेट की झोली से बंधे रहने की प्रेरणा देती है?

□ जिस मां ने आपके लिये इतना कुछ सहा, उसके बुढ़ापे में आप उसका सहारा क्यों नहीं बनते? उसे अपने साथ क्यों नहीं रखते जबकि सरकार ने आपको इतना बड़ा घर दे रखा है? आपके पास अथाह सुख-सुविधायें हैं। आप उन्हें अपनी मां से क्यों नहीं बांटते?

□ अभावकाल के आपके साथी और पड़ोसी कहां चले गये? उनके जीवन में आज भी अभाव ही अभाव है। पर आपके जीवन में उनकी जगह अडानी और अम्बानी ने कैसे ले ली है? आप सिर्फ अभावों से ही दूर नहीं हुए हैं बल्कि करोड़ों अभावग्रस्त देशवासियों से भी बहुत दूर हो गये हैं।